

## साहित्यिक कृतियों पर आधारित इक्कीसवीं सदी का हिन्दी सिनेमा

प्रियंका

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,  
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-500046  
priyankatangri@gmail.com

**साहित्य** और सिनेमा के रिश्ते पर पर्याप्त चर्चाएँ होती रहती हैं। साहित्यिक कृतियों की अपनी विशिष्टता होती है। एक विधा के बतौर साहित्य सदियों से समाज को प्रभावित करता रहा है। सिनेमा का इतिहास अपेक्षाकृत बहुत नया है। लगभग सवा सौ साल की उम्र का सिनेमा दशकों से लगातार पूरी दुनिया में सबसे प्रभावशाली कला विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। अपना-अपना स्वतंत्र महत्व और प्रभाव रखने के कारण ही साहित्यिक कृतियों और सिनेमा की जुगलबंदी को अत्यंत महत्व की घटना के रूप में देखा जाता रहा है।

हिन्दी सिनेमा और प्रकाशित साहित्यिक कृतियों के बीच हालांकि बहुत अधिक मजबूत रिश्ता कभी नहीं रहा, लेकिन शुरूआती दौर से ही साहित्यिक कृतियों पर आधारित छिटपुट फिल्में जरूर बनती रहीं, और इनमें से कई फिल्में उल्लेखनीय मानी जाती रहीं।<sup>1</sup> बाद के दशकों में जरूर कुछ प्रतिबद्ध फिल्मकारों ने समाजोन्मुखी महत्वपूर्ण विषयों को सिनेमा के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए साहित्यिक कृतियों को बहुत उपयोगी समझा और उन्हें अपनी कई फिल्मों का आधार बनाया।<sup>2</sup>

हिन्दी सिनेमा और साहित्य की जुगलबंदी की यात्रा अब नयी सदी में प्रवेश कर उसके दूसरे दशक के अंतिम वर्षों में पहुँच चुकी है। यह प्रपत्र नयी सदी, यानी इक्कीसवीं सदी में हिन्दी सिनेमा और साहित्य के बीच के सम्बंध की स्थिति, उपलब्धियों, चुनौतियों और संभावनाओं पर केन्द्रित है।

यह सच्चाई है कि सिनेमा मूलतः कला विधा होते हुए भी व्यावहारिक रूप से लागत और मुनाफा केन्द्रित व्यवसाय अधिक है। नयी सदी में सिनेमा की व्यावसायिक प्रवृत्ति में और अधिक इज़ाफा हुआ है। इस घोर व्यावसायिक दौर में भी यदि कुछ उम्दा फिल्में बन रही हैं तो यह या तो कुछ फिल्मकारों की व्यक्तिगत निष्ठा के कारण संभव हो पा रहा है या कई बार महज़ संयोग के कारण ! गंभीर फिल्मों की लागत और उससे कमाई का अनुपात अभी भी फिल्मकारों को बहुत अधिक हतोत्साहित करने वाला होता है। गंभीर साहित्य पर बनी फिल्मों के साथ यह ज़ोखिम और भी अधिक होता है, ऐसी स्थिति में भी फिल्मकारों का इस दिशा में साहस करना वाकई बड़ी बात है।<sup>3</sup>

लोकप्रिय साहित्य पर फिल्में बनाते हुए यह ज़ोखिम निश्चित रूप से कम हो जाता है। यदि फिल्मकार का दृष्टिकोण व्यावसायिक हो तो ऐसी फिल्मों भी बहुत अच्छी कमाई कर लेती हैं। 21वीं सदी में साहित्य पर बनी व्यावसायिक रूप से सफल फिल्मों का ज़िक्र करें तो शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास 'देवदास' पर 2002 में प्रदर्शित संजय लीला भंसाली की फिल्म 'देवदास', शरतचंद्र के ही उपन्यास पर प्रदीप सरकार के निर्देशन में बनी फिल्म 'परिणीता'(2005), विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' पर अमोल पालेकर द्वारा बनायी गयी फिल्म 'पहेली'(2005), और चेतन भगत के विभिन्न उपन्यासों पर बनी फिल्मों '3 इडियट्स' (2009), 'काय पो चे' (2013), 'टू स्टेट्स' (2014), रस्किन बांड के उपन्यास पर 'सुसन्नाज़ सेवेन हसबैंड्स' पर बनी फिल्म 'सात खून माफ़'(2011), हरिन्दर सिक्का लिखित सत्य घटना से प्रेरित उपन्यास 'कॉलिंग सहमत' पर बनी 'राज़ी' (2018) आदि का ज़िक्र किया जा सकता है। विचार करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन फिल्मों की व्यावसायिक सफलता जिन बातों पर निर्भर रही, उनमें से एक यह है कि अधिकांश फिल्मों की आधार साहित्यिक कृतियाँ पहले ही बहुत लोकप्रिय रही थीं, दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि अधिकांश फिल्मों को बड़े बैनर, बहुत बड़ी लागत, पर्याप्त प्रमोशन और बड़े स्टार कास्ट के साथ बनाया गया।

बहुत सारी साहित्यिक कृतियाँ बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाती हैं लेकिन अपने विषय वस्तु की गंभीरता और अन्य उत्कृष्टताओं की वजह से समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होती हैं। इस तरह के साहित्य के साथ बड़े बैनर, बड़ी लागत, बड़े स्टारकास्ट जैसे संयोग बिरले ही बनते हैं। यह आम समझ है कि गंभीर विषयों और आशयों को पूरी शिद्दत से प्रस्तुत करने वाली फिल्में सराही ज़रूर जाती हैं, लेकिन व्यवसाय करने में ये फिल्में फिसड्डी साबित होती हैं। सिनेमा के माध्यम से आर्थिक दोहन करने वाले फिल्मकार इस बात से अधिक सरोकार नहीं रखते हैं कि दर्शकों को क्या परोसना उचित और आवश्यक है, बल्कि वे अपना लगभग सारा ध्यान इस बात पर केन्द्रित करते हैं कि दर्शकों को क्या देखना पसंद है। कुछ फिल्मकार दर्शकों की रुचियों में परिष्कार करने और उन्हें विचार और संवेदना के स्तर पर समृद्ध बनाने के उद्देश्य से भारी व्यावसायिक ज़ोखिम उठाने से भी नहीं हिचकते हैं, साहित्य आधारित कई फिल्में इसी उद्देश्य से प्रेरित फिल्मकारों की देन मानी जा सकती हैं।<sup>4</sup>

गिरीश कर्नाड के मूल कन्नड़ में लिखे नाटक 'अग्नि मत्तू माले' को आधार बनाकर 2002 में अर्जुन सजनानी ने 'अग्निवर्षा' नामक फिल्म बनायी। गिरीश कर्नाड का यह नाटक मूल रूप से महाभारत की कथा से प्रेरित है। कला, शुचिता, धर्म, पाखंड, प्रेम, ईर्ष्या, वर्चस्व, स्त्री जैसे विभिन्न मुद्दों को छूने वाली यह फिल्म दर्शकों पर खासा प्रभाव छोड़ती है।

प्रतिष्ठित लेखिका अमृता प्रीतम के पंजाबी उपन्यास 'पिंजर' पर इसी नाम से 2003 में चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने एक फिल्म बनाई थी। भारत-पाक विभाजन, साम्प्रदायिक हिंसा, घृणा, प्रेम सहित कई भावनात्मक पहलुओं को पिरोकर बुने गये इस कथानक का फिल्मांकन भी संवेदना को झकझोर कर रख देने वाला है।

इस फिल्म को देश-विदेश में पर्याप्त सरहाना मिली। भारत पाक विभाजन की त्रासदी के कई पहलुओं को समझने के लिए भी इस फिल्म का उपयोग किया जाता है।

2007 में प्रदर्शित हुई मनीष झा निर्देशित फिल्म 'अनवर' प्रियंवद की हिन्दी कहानी 'फाल्गुन की एक उपकथा' पर आधारित है। साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह और प्रेम जैसे संवेदनशील विषयों पर केन्द्रित यह फिल्म बहुत प्रभावी हो सकती थी लेकिन अपनी कमज़ोर बुनावट, मूल कथानक की सूक्ष्मताओं के निर्वाह का अभाव, अनावश्यक नाटकीयता और अभिनेताओं की क्षमता का सही इस्तेमाल नहीं हो पाने के कारण यह फिल्म बेहद साधारण स्तर की होकर रह गयी है। संभव है कि इसके पीछे का बड़ा कारण व्यावसायिक दबाव रहा हो। यह संदेह इसलिए भी होता है क्योंकि इससे पहले मनीष झा के निर्देशन में 2003 में प्रदर्शित हुई फिल्म 'मातृभूमि' की लगभग हर दृष्टिकोण से सराहना की गयी और इस फिल्म ने मनीष झा को एक बेहद संभावनाशील निर्देशक के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई। इसके बावजूद व्यावसायिक रूप से यह फिल्म असफल रही थी, और इसका असर निर्देशक के आगे के कामों पर पड़े, तो इसे अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी कथाकार उदय प्रकाश की बहुचर्चित कहानी 'मोहनदास' पर इसी नाम से 2009 में मज़हर कामरान के निर्देशन में एक फिल्म प्रदर्शित हुई। कुछ तकनीकी व अन्य खामियों के बावजूद यह फिल्म अच्छी बनी है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इसे मेहनत और ईमानदारी से बनाया गया है। जिन लोगों ने 'मोहनदास' को पढ़ा है, और जिनके मन पर उदय प्रकाश की प्रभावी लेखन शैली का गहरा असर है, मेरे खयाल से यदि वे इस गहरे असर से कुछ देर के लिए बाहर आकर यह फिल्म देख सकें तो इसका अधिक सही मूल्यांकन कर पायेंगे। आखिरकार फिल्म और कहानी दो अलग विधाएँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी सीमाएँ और विशेषताएँ हैं। समाज की ज्वलंत समस्याओं से जूझते एक महत्वपूर्ण कथानक को सीमित संसाधनों के बल पर संवेदनशीलता के साथ फिल्माने के लिए भी निर्देशक की तारीफ की जानी चाहिए।

फणीश्वर नाथ रेणु की बेहतरीन कहानी 'पंचलाइट' पर 2017 में प्रेमप्रकाश मोदी निर्देशित 'पंचलैट' फिल्म आई। इस फिल्म को चर्चा और तारीफ तो मिली, लेकिन इस फिल्म को प्रदर्शन के लिए ठीक-ठाक संख्या में सिनेमाघर तक नहीं मिल सके यानी व्यावसायिक रूप से यह फिल्म भी असफल रही।

अभी हाल ही में नंदिता दास निर्देशित फिल्म 'मंटो' रिलीज़ हुई। इस फिल्म में उर्दू के ख्यात अफसानानिगार सआदत हसन मंटो के जीवन और उनकी कुछ कहानियों को आधार बनाया गया है। यह फिल्म भी व्यावसायिक रूप से असफल रही। हालांकि समीक्षकों ने भी इस फिल्म को अपेक्षा से कमतर माना है।

इसी साल (2018) मंटो की ही एक चर्चित कहानी 'टोबा टेक सिंह' पर इसी नाम से बनी एक और फिल्म प्रदर्शित हुई। इसका निर्देशन केतन मेहता ने किया है। फिल्म अच्छी बनी है, लेकिन व्यावसायिक ज़ोखिम का शायद पहले से अनुमान होने के कारण इसे सिनेमाघरों में प्रदर्शित करने के बजाय एक

वेबसाइट (ज़ी5) पर प्रदर्शित किया गया। जहाँ कुछ मामूली रकम चुकाकर सब्सक्रिप्शन लेने वाले इसे देख सकते हैं।

काशीनाथ सिंह के बहुचर्चित उपन्यास 'काशी का अस्सी' के एक खंड 'पांडे कौन कुमति तोहें लागी' पर चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने कई सालों की मेहनत के बाद 'मोहल्ला अस्सी' नाम से एक फिल्म बनायी है। इसे अपने निर्माण के समय से ही बहुत सारी दिक्कतों का लगातार सामना करना पड़ा। यह फिल्म काफी पहले बनकर तैयार हो गयी थी, लेकिन इसे रिलीज़ कर पाना संभव नहीं हो पा रहा था। इस फिल्म के साथ एक बड़ी त्रासदी यह भी हुई कि कुछ साल पहले यह इंटरनेट पर लीक हो गयी थी। उस समय लोगों ने इस फिल्म को न सिर्फ मुफ्त में देखा बल्कि दूसरों को वितरित भी किया। इस तरह की तकलीफदेह और निराशाजनक परिस्थितियों में साहित्य पर आधारित अच्छी फिल्मों की अपेक्षा ज़्यादाती लगती है। हालांकि इस आलेख को जब मैं अंतिम रूप दे रही हूँ, तब यह फिल्म तमाम समस्याओं को पार कर सिनेमाघरों में रिलीज़ ज़रूर हो चुकी है, लेकिन आ रही खबरों के मुताबिक इस बात में भारी संदेह है कि यह फिल्म अपनी लागत भी निकाल पायेगी!

संतोष की बात यह है कि साहित्य आधारित हिन्दी फिल्मों की परंपरा इक्कीसवीं सदी में भी बरकरार है। हालांकि यह परंपरा हमेशा से क्षीण रही है, लेकिन नयी सदी में यह और अधिक क्षीण हुई है। हिन्दी साहित्य और हिन्दी सिनेमा के बीच के सम्बंध तो बिलकुल भी उत्साहजनक नहीं माने जा सकते। यदि इनके बीच की खाई को पाटा जा सके तो यह दर्शकों के लिए बेहतर परिणाम लाने वाले साबित होंगे। एक अन्य बहुत महत्वपूर्ण बात का उल्लेख आवश्यक है जिसकी अक्सर अपेक्षा की जाती है, वह यह है कि प्रकाशित साहित्यिक कृतियों का आधार ग्रहण किये बिना भी बहुत सारी उम्दा फिल्में बन रही हैं, जो अपने आप में उम्दा साहित्य के सारे गुण समेटे हुए हैं, और उन्हें इस रूप में भी ग्रहण किये जाने की आवश्यकता है। साहित्य आधारित अच्छी फिल्में, और पर्याप्त साहित्यिक महत्व की फिल्में बनती रहें, इसके लिए पूरी सिनेमाई संस्कृति, जिसमें दर्शक की अभिरूचि, सिनेमा की दर्शकों तक पहुँच और व्यवसाय सहित कई अन्य पहलू शामिल हैं, उनमें भारी सुधार की दरकार है।

### संदर्भ :

1. ऐसी कुछ फिल्मों के बतौर 'देवदास' (मूक फिल्मों के दौर से 1950 के दशक तक कई ऋदेशकों द्वारा कई बार बनाई गयी), सुजाता(1959), 'बंदिनी' (1963), गोदान (1963) 'चित्रलेखा' (1964), गाइड (1965), तीसरी कसम (1966), सारा आकाश (1969) आदि नाम लिए जा सकते हैं।
2. ऐसी कुछ फिल्मों के बतौर विजयदान देधा की कहानी पर मणि कौल के निर्देशन में बनी फिल्म दुविधा (1973), प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' पर इसी नाम से सत्यजीत रे द्वारा 1977 में बनायी गयी फिल्म, समरेश बसु की बांग्ला कहानी 'पारि' पर गौतम घोष के निर्देशन में बनी 'पार' (1984), शैवाल की कहानी 'कालसूत्र' पर प्रकाश झा के निर्देशन में बनी फिल्म 'दामुल'(1985), भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' पर दूरदर्शन के लिए गोविन्द निहलानी के निर्देशन में बनी 'तमस' (1988), धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवां घोड़ा' पर श्याम बेनेगल की इसी नाम से 1992 में बनायी गयी फिल्म, महाश्वेता देवी के उपन्यास 'हजार चुराशिर माँ' पर आधारित गोविन्द निहलानी निर्देशित 'हजार चौरासी की माँ'(1998) सहित कई फिल्मों के नाम लिए जा सकते हैं।

3. महेन्द्र प्रजापति को दिये एक साक्षात्कार में फिल्मकार चन्द्रप्रकाश द्विवेदी ने कहा है : “..जिस तरह के विषयों को मैं सोचता हूँ उसका कोई समर्थन बाजार नहीं करता। जब तक बाजार समर्थन नहीं करेगा आपका, आप अच्छा काम कर पाएँगे। पर वोल्यूम जिसको कहते हैं संख्या, संख्या की दृष्टि से आप बहुत ज्यादा काम नहीं कर पायेंगे।” देखिए : समसामयिक सृजन (अक्टूबर-मार्च 2012-13), पृ.-252
4. गोविन्द निहलानी के विचार का उल्लेख करना समीचीन होगा। वे सार्वजनिक तौर पर ये कहते हैं कि उनकी फिल्मों समाज के प्रति जिम्मेदार हैं, और वे जिस समाज में रहते हैं उसके प्रति अपनी प्रतिबद्धता को महसूस करते हैं। देखिए : ‘गोविन्द निहलानी का आत्मकथ्य : मेरी फिल्में गैर-जिम्मेदार नहीं हैं।’ सिनेमा के सौ बरस (सं. मृत्युंजय), पृ. सं.- 252
5. कथाकार संजीव ने अपने लेख ‘भारतीय फिल्म-उद्योग : फाल्के और फलक’ में अच्छी साहित्यिक कृतियों पर बनने वाली फिल्मों की तमाम आर्थिक चुनौतियों और उसके नाकारात्मक परिणामों पर रोशनी डाली है। देखिए : <http://www.hindisamay.com/content/5751/1/संजीव-सिनेमा-भारतीय-फिल्म-उद्योग-फाल्के-और-फलक.csp>

#### संदर्भ-ग्रन्थ

1. महेन्द्र प्रजापति (संपादक) : समसामयिक सृजन : अक्टूबर-मार्च 2012-13 संयुक्तांक (हिन्दी सिनेमा पर केन्द्रित) : एच-189, विकासपुरी, नई दिल्ली-18
2. मृत्युंजय (सं.) : सिनेमा के सौ बरस : तृतीय सं.-2011 : शिल्पायन प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली-110032
3. हिन्दी समय वेबपोर्टल : <http://www.hindisamay.com/content/5751/1/संजीव-सिनेमा-भारतीय-फिल्म-उद्योग-फाल्के-और-फलक.csp>